भारतीय ज्ञान परंपरा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक :
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2024

ISBN : 978 - 81 - 89435 - 66 - 0

मूल्य - 300/-

रचना - भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

हिन्दी कथा साहित्य और भारत विभाजन

रामस्वरूप गढ़वाल
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

प्राचीन भारत में साम्प्रदायिकता जैसा कोई शब्द अथवा संकीर्ण विचारधारा कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। भारतीय संस्कृति का मूल स्वभाव सर्वथा सर्वमत-समावेशी और उदारवादी रहा है। यहाँ विभिन्न दार्शनिक मतों, धार्मिक परम्पराओं और भाषायी विविधताओं के रहते हुए भी जीवन का मूल लक्ष्य एक ही स्वीकार किया गया। मतों की भिन्नता के बावजूद परस्पर सम्मान की परम्परा रही। यह विशेषता भारत की सांस्कृतिक चेतना का अद्वितीय आयाम है।

भाषाओं की भिन्नता और स्थान विशेष की दूरियों के होते हुए भी सम्पूर्ण भारत में आचरण की शुद्धता और परस्पर सहिष्णुता का भाव विद्यमान रहा। यदि किसी विचार को अस्वीकार भी किया गया, तो उसका खण्डन केवल तर्क और वाद-विवाद की पद्धति द्वारा किया जाता था। शास्त्रार्थ भारतीय परम्परा का अभिन्न अंग था। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय परम्परा ने दूसरों के विचारों का सम्मान करना अपना कर्तव्य माना।

भारत में साम्प्रदायिकता का प्रवेश अंग्रेजों के आगमन के बाद हुआ। पश्चिमी देशों के षड्यंत्र के अंतर्गत भारत में धर्म अथवा भाषा के आधार पर समाज को बाँटने का कार्य हुआ। साम्प्रदायिकता का आशय किसी धर्म या भाषिक समूह को पृथक सामाजिक या राजनीतिक इकाई मानना और उसके हितों को अन्य समूहों के विरोधी मानना है। यह दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति का नहीं, बल्कि औपनिवेशिक राजनीति का परिणाम था।

भारतीय धर्मनिरपेक्षता की समझ पाश्चात्य धर्मनिरपेक्षता से सर्वथा भिन्न है। पाश्चात्य धर्मनिरपेक्षता का आधार प्राय: धर्मविमुखता अथवा नास्तिकता से जुड़ा हुआ है, जबकि भारत में धर्मनिरपेक्षता का आधार धर्म के प्रति गहन आस्था और सहिष्णुता है। डॉ. राधाकृष्णन ने कहा था कि भारतीय राज्य-व्यवस्था की धर्म-विषयक निष्पक्षता का अर्थ नास्तिकता नहीं है, बल्कि यह भारतीय धार्मिक परम्परा की देन है।

महात्मा गांधी ने भी अपने चिंतन में **सर्वधर्म** समन्वय का विचार प्रकट किया। वे सभी धर्मों को सम्मान की दृष्टि से देखते थे, किंतु स्वधर्म को ही आत्मानुशासन और साधना का मार्ग मानते थे। गांधीजी के अनुसार राज्य की धर्मनिरपेक्षता का आधार व्यापक ईश्वरीय आस्था और अध्यात्म है। यही कारण है कि भारतीय संविधान की धर्मनिरपेक्षता हमारी सांस्कृतिक सहिष्णुता और समन्वयात्मकता पर आधारित है।

भारतीय परम्परा का मूल स्वर ''एकम् सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'' में निहित है, जिसका तात्पर्य है कि सत्य एक है, परन्तु ज्ञानीजन उसकी व्याख्या अनेक प्रकार से करते हैं। यही विचारधारा सहिष्णुता, अनेकान्तवाद और समन्वय का आधार बनी। प्राचीन काल से ही अहिंसा और अनेकान्त का दर्शन भारत में पुष्पित और पल्लवित हुआ। विचारों की स्वतंत्रता और परस्पर सहानुभूति भारतीय जीवन की मुख्य विशेषता रही।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता किसी बाहरी प्रभाव की देन नहीं है, बल्कि यह हमारी सांस्कृतिक धरोहर का स्वाभाविक परिणाम है। भारतीय परम्परा ने सदैव सहिष्णुता, मानवीय चेतना की स्वतंत्रता, अनेकान्त और समन्वय की प्रेरणा दी है। यही हमारी संविधान में निहित धर्मनिरपेक्षता की सांस्कृतिक भावभूमि है।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता के अग्रदूत माने जाते हैं। उन्होंने 19वीं शताब्दी में हिन्दी भाषा और साहित्य को एक नयी गति और दिशा प्रदान की। 'कवि वचन-सुधा' (1867 ई.), 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (1874 ई.) और 'बाल बोधिनी' (1876 ई.) जैसी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं का प्रकाशन कर उन्होंने हिन्दी के विकास को तीव्रता प्रदान की। भारतेंदु हरिश्चन्द्र की इस परम्परा को उनके समकालीन साहित्यकारों और पत्रकारों ने भी आगे बढ़ाया। प्रयाग से पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप', कानपुर से पं. प्रताप नारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', और मिर्जापुर से चौधरी बद्रीनारायण प्रेमधन ने 'आनन्द कादम्बिनी' जैसी पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। इन सबके प्रयासों से हिन्दी पत्रकारिता और साहित्य में नवचेतना का संचार हुआ। यही कारण है कि डॉ. रामविलास शर्मा ने इस काल को 'हिन्दी नवजागरण' की संज्ञा दी।

विभाजन के समय और उसके पश्चात् हिन्दी साहित्य ने नए विषयों और गहरी मानवीय त्रासदियों को स्वर दिया। कमलेश्वर का उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कृति है। इसमें उन्होंने भारत के विभाजन की पीड़ा और उसके सामाजिक-सांस्कृतिक परिणामों को गहन संवेदनशीलता से व्यक्त किया। उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार धर्म और तहजीब के नाम पर सभ्यताएँ भी हिंसक और रक्तरंजित हो जाती हैं। उन्होंने भाषा और संस्कृति की एकता को बनाए रखने का संदेश देते हुए कहा

कि राजनीतिक सरहदें चाहे कितनी भी खींची जाएँ, साहित्य और भाषा का साझा सरोकार मनुष्यता को बचाए रखता है।

भारत विभाजन की त्रासदी ने हिन्दी साहित्यकारों के अंतर्मन को गहराई से झकझोर दिया। इस पीड़ा से 'तमस' जैसी कृति का जन्म हुआ। इस उपन्यास में विभाजन के दौरान हुए अमानवीय कृत्यों, हिंसा और मानवीय पीड़ा का यथार्थपूर्ण चित्रण किया गया। लेखक ने यह दिखाया कि विभाजन के समय आँकड़े मात्र नहीं थे, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के घाव और अनुभव उसमें छिपे थे।

विभाजन के बाद साहित्य ने एक नयी करवट ली। कविताओं और कहानियों के माध्यम से लेखकों ने उस त्रासदी के जख्मों को शब्दों में ढालने का प्रयास किया। यह साहित्य आज भी पाठकों के हृदय में गहरे दर्द और संवेदना को जाग्रत कर देता है।

विभाजन साहित्य पर शोध करते हुए अशोक भल्ला ने इस विषय में गहन कार्य किया। उनके अनुसार विभाजन से संबंधित साहित्य को केवल इतिहास-लेखन के लिए 'कच्चे माल' के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि इसे ऐतिहासिक वृत्तांतों, राजनीतिक दस्तावेजों, पुलिस रिपोर्टों, धार्मिक पर्चों और निजी संस्मरणों के समानांतर समझना चाहिए। अशोक भल्ला ने विभाजन पर लिखे गये कथा-लेखन का आलोचनात्मक अध्ययन और अनुवाद किया तथा उनके सम्पादन में विभाजन पर आधारित कहानियों का तीन खंडों में अंग्रेज़ी में संकलन भी प्रकाशित हुआ।

अशोक भल्ला ने विभाजन की स्मृतियों और उससे जुड़ी मानवीय पीड़ा को समझने के लिए अनेक साहित्यकारों और चिंतकों से संवाद किए। उनकी महत्वपूर्ण कृति '**पार्टीशन डायलॉग्स : मेमरिज ऑफ ए लॉस्ट होम**' में भीष्म साहनी, कमलेश्वर, इंतजार हुसैन, कृष्णा सोबती, बाप्सी सिध्वा और कृष्ण बलदेव वैद जैसे बड़े लेखकों से किए गए साक्षात्कार संकलित हैं। यह पुस्तक विभाजन-साहित्य का एक सशक्त और जीवंत दस्तावेज मानी जाती है। इसमें विभाजन की सबसे प्रमुख थीम को रेखांकित किया गया है— लाखों लोगों को उनकी इच्छा और सहज जीवन से विपरीत परिस्थितियों में अपने घरों, बस्तियों और वतन से जबरन बेदखल किया जाना तथा अजनबी और अपरिचित शहरों की ओर एक दु:खद, कठिन और असुरक्षित यात्रा के लिए विवश होना।

भल्ला के अनुसार, आजादी के नाम पर लोगों पर थोपी गई इस बेवतन जिंदगी ने साहित्य को गहराई तक प्रभावित किया। इस कृति के पहले हिस्से में उन्होंने हिन्दी और उदूर् के विभाजन-साहित्य का विश्लेषण करते हुए यह दिखाया कि वतन या घर की अवधारणा इस साहित्य में किस प्रकार अभिव्यक्त हुई है। दूसरे हिस्से में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि विभाजन-वृत्तांतों में 'घर' का विचार महात्मा गांधी के उस जीवन-

संघर्ष से जुड़ता है, जिसमें स्वतंत्रता, नैतिकता और घर की अवधारणाएँ परस्पर गुँथी हुई थीं। इस प्रकार भल्ला का लेखन गांधी के 'स्वराज' की संकल्पना को भी पुष्ट करता है। अशोक भल्ला ने इस लेख में अंग्रेजी में अनूदित हिन्दी और उर्दू की अधिकांश विभाजन-रचनाओं को सम्मिलित किया, जिनमें से कई का अनुवाद उन्होंने स्वयं किया। हाँ, यदि बांग्ला और पंजाबी में लिखे मूल साहित्य को भी इसमें शामिल किया जाता तो यह और अधिक व्यापक रूप ले सकता था, क्योंकि विभाजन का सबसे गहरा दंश इन्हीं भाषाई क्षेत्रों को सहना पड़ा।

विभाजन पर साहित्यकारों के विचार अत्यंत मार्मिक हैं। इंतजार हुसैन का कथन है— "विभाजन ने भूगोल को ही नहीं बाँटा, बल्कि इतिहास का भी विभाजन किया।" कमलेश्वर ने अपने उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' में इस त्रासदी को अभिव्यक्त करते हुए कहा कि उनकी पहचान एक ऐसे देश से है जो विविध संस्कृतियों की अन्त:क्रिया का परिणाम है। वे स्वयं को भारतीय मानते हैं, परंतु उस प्रकार का कट्टरपंथी नहीं जैसा कि आज की राजनीति उन्हें बनाना चाहती है। उनके अनुसार वे एक जटिल और बहुआयामी सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं।

बाप्सी सिध्वा ने 1997 में हुए साक्षात्कार में पाकिस्तान में फैल रहे तालिबानीकरण पर गहरी चिन्ता जताई। उन्होंने आशंका प्रकट की कि कहीं ऐसा ही कट्टरवाद भारत में भी न फैल जाए और दोनों देशों में पुन: जनसंहार जैसी स्थितियाँ पैदा न हों। उनके भय का आधार आनंद पटवर्धन की 'अयोध्या' पर बनी फिल्म में दिखाए गए कुछ युवाओं के साम्प्रदायिक वक्तव्य थे।

विभाजन की विभीषिका ने न केवल साहित्यकारों को, बल्कि सभी संवेदनशील हिन्दुओं और मुसलमानों को गहराई तक झकझोर दिया। सरहदों पर उठते सवाल, जलते घर और खाक होते खेतों ने दोनों समुदायों के बीच गहरी खाई पैदा कर दी। इस स्थिति में आजादी का अर्थ और जीवन का स्वरूप ही संदिग्ध हो गया।

राही मासूम रजा का उपन्यास '**आधा गाँव**' भारत-विभाजन की त्रासदी का अत्यंत जीवंत और मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है। इसमें विभाजन के कारण गाँवों के टूटते रिश्ते, मानवीय मूल्यों का ह्रास और सामाजिक ताने-बाने की विघटनशील स्थिति का सजीव रूप सामने आता है। रजा ने दिखाया है कि कैसे सदियों से साथ रह रहे लोग अचानक एक-दूसरे के शत्रु बन गए और धमज़ की दीवारों ने पूरे समाज को बिखेर दिया। इसी प्रकार कृष्ण बलदेव वैद्य, यशपाल और कुर्रतुल ऐन हैदर जैसे साहित्यकारों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं में विभाजन की पीड़ा और उसके दुष्परिणामों को गहराई से उकेरा है। यशपाल ने विभाजन को केवल राजनीतिक घटना न मानकर सामाजिक विघटन की त्रासदी के रूप में प्रस्तुत किया। कुर्रतुल ऐन हैदर ने अपने उपन्यास '**आग**

का दरिया' में विभाजन को इतिहास की एक निरंतर धारा के रूप में चित्रित किया, जिसमें मनुष्य और उसकी सभ्यता समय–समय पर संघर्ष और पीड़ा से गुजरती है।

इस संदर्भ में नंदिता भवनानी और सारा अंसारी ने भारत–विभाजन के दौरान सिन्ध प्रांत से हिंदुओं के विस्थापन और मुसलमानों के आगमन पर विशेष अध्ययन किया है। उनके शोध के अनुसार, विभाजन के समय सिन्ध के हिंदुओं को शरणार्थी के रूप में स्वीकार किया गया। इस प्रक्रिया में बड़े पैमाने पर जनसंख्या का अदला–बदली हुई। भवनानी और अंसारी का निष्कर्ष है कि विभाजन के दौरान हिन्दू और सिख शरणाथिर्ज़्यों ने दिल्ली से मुसलमानों को बाहर निकालने का प्रयास किया, वहीं गुजरात से मुसलमानों को हटाकर वहाँ सिंधी और हिन्दू शरणाथिर्ज़्यों को बसाया गया।

अंसारी का विश्लेषण यह भी बताता है कि पाकिस्तान में स्थानीय निवासियों और भारत से आए प्रवासी मुसलमानों के बीच अंतर्विरोध और तनाव उत्पन्न हुए। इन परिस्थितियों ने राज्य और शरणार्थियों दोनों को एक साझा इस्लामी नैतिकता खोजने की ओर प्रेरित किया। इसी नैतिक आधार ने पाकिस्तान की आगामी राजनीतिक संस्कृति को आकार देने की भूमिका निभाई।

एक अध्ययन के अनुसार 1947 में पश्चिमी पाकिस्तान में प्रमुख हिन्दू–सिख निकासार्थी पॉकेट इस प्रकार रही–

1.	ननकाना साहिब	50000
2.	सच्चा सौदा	50000
3.	चुकरना	40600
4.	गुजराँवाला शहर	11500
5.	अकाल गढ़	4000
6.	नारोवाल	10000
7.	गुजरात टाउन	11500
8.	मंडी बाबाउद्दीन	52000
9.	मंगोवल	30000
10.	रावलपिंडी शहर	25000
11.	वाह	31000
12.	पंजा साहिब	10000
13.	अटक	10000
14.	मियाँवाली	6000
15.	मारी सिंधु	10000
16.	भक्कर	10000

17.	सरगोधा टाउन	57000
18.	सिल्लांवाली	10000
19.	खुशाब	20000
20.	शाहपुर टाउन	14000
21.	पुल्लेर वन	20000
22.	झांग टाउन	28000
23.	शोर्कोत	7000
24.	ललियाँ	5500
25.	ट्रिम्मो	90000
26.	ल्यालपुर	28000
27.	जरनवाला	15000
28.	मुल्तान टाउन	85000
29.	खानेवाल	100000
30.	करोर पक्का	17500
31.	मानसी और कंवर पाकारी	30000
32.	तिब्बा सुल्तानपुर	12000
33.	मुजफ्फरगढ़ टाउन	20000
34.	कोथडू और लीया	13250
35.	डी.जी. खान शहर	14000
36.	जामपुर	15000
37.	चकवाल	10500
38.	बन्नू	15000
	कुल संख्या	**988350**

उपर्युक्त शरणार्थियों ने बैलगाडियों, ऊँटों, रेल तथा पैदल ही पाकिस्तान से भारत में गमन किया।

भारत विभाजन की त्रासदी केवल आँकड़ों और घटनाओं तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसने संवेदनशील मनुष्य की आत्मा को भीतर तक झकझोर दिया। साहित्य, कला और चिंतन सभी ने उस अमानवीय स्थिति को अपने-अपने ढंग से व्यक्त किया।

हरभजन सिंह द्वारा संपादित संकलन 'उन्नीस सौ चौरासी' (चेतना प्रकाशन, 2017) में अमरजीत चंदन की कविता इस पीड़ा को हृदयस्पर्शी शब्द देती है-

"उजड़ चुक्का है घर भावें नथावाँ कोई बस जाऊ
उदी खातर ही जाँदी बार इक दीवा जगा चलिए।

असाडे कातलाँ ने ताँ परेवाँ (प्रेतों) संग वसणा है
बड़ा गाहिरा इन्हाँ दा दुख, न दे के बददुआ चलिए।''

कविता में उजड़े हुए घर, जली हुई चिराग की लौ, और प्रेतों के बीच जीने की विवशता का गहन दु:ख उभरता है। इसमें यह संदेश छिपा है कि हिंसा और अमानवीयता के बीच भी इंसान का हृदय शांति और उम्मीद का एक छोटा-सा दीया जलाने की कोशिश करता है।

साहित्य के साथ-साथ कला ने भी इस त्रासदी को अभिव्यक्त किया। प्रसिद्ध चित्रकार सतीश गुजराल ने विभाजन की विभीषिका को प्रत्यक्ष देखा और अपनी स्मृतियों में उस भगदड़ और दहशत का उल्लेख किया, जब औरतें और बच्चे जान बचाने के लिए भाग रहे थे, घर जल रहे थे, और पूरे इलाके में मौत का साया मंडरा रहा था। इन अनुभवों को उन्होंने अपने चित्रों में उतारा, जिनमें पीड़ा, असहायता और आक्रोश का गहन रूप दिखाई देता है।

भीष्म साहनी ने भी विभाजन के दौरान हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों की जटिलता को गहराई से समझाया। उन्होंने लिखा कि पड़ोस और हमसाए के बीच का रिश्ता बहुत मायने रखता था। अक्सर पड़ोसी अपने पड़ोसी की रक्षा करते थे, उन्हें पनाह देते थे। गाँव या मुहल्ले के भीतर रहने वाले अल्पसंख्यक अपेक्षाकृत सुरक्षित रहते थे, लेकिन जब बाहर से दूसरे गाँव या मोहल्ले के लोग आते तो वही हिंसा, कत्लेआम और लूटमार का दृश्य रचते। इस प्रकार मानवीय संबंधों की जटिलता सामने आती है—जहाँ दोस्ती और पड़ोस का लिहाज बचा रहता था, वहीं धार्मिक उन्माद और भीड़ मानसिकता ने उसी मनुष्य को निर्दयी बना दिया।

विभाजन की इस विडम्बना के मूल में मुस्लिम लीग का कट्टरवाद था, जिसे औपनिवेशिक सत्ता ने हवा दी। इस विचारधारा की जड़ें सर सय्यद अहमद खाँ के राजनीतिक चिंतन तक पहुँचती हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि इकबाल ने प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की संकल्पना नहीं दी थी, किंतु 1930 में इलाहाबाद अधिवेशन में मुस्लिम लीग के 25वें सत्र में उनके अध्यक्षीय भाषण को पाकिस्तान की विचारभूमि का 'बीज वक्तव्य' माना गया। इसी विचार ने बाद में सांप्रदायिक विभाजन की माँग को वैचारिक आधार प्रदान किया।

भारत का विभाजन केवल एक राजनीतिक घटना नहीं था, बल्कि वह भारतीय समाज की गहराइयों को झकझोर देने वाला ऐसा प्रसंग था जिसने दोनों मुल्कों के सामूहिक अवचेतन पर अमिट छाप छोड़ी। यह एक लिमिनल स्पेस के रूप में उभरा, जिसमें विडम्बनाएँ, विरोधाभास और सतत पीड़ा आज भी जीवित हैं। जैसे उपनिवेशवाद की स्मृति सतत है, उसी प्रकार विभाजन की वास्तविकता भी आज तक प्रासंगिक बनी

हुई है।

बँटवारे के साहित्य में चाहे कोई भी पात्र हो, उसकी बाहरी परिस्थिति विभाजन से जुड़ी मारकाट, हिंसा और लूट-पाट से ही निर्मित होती है। इन परिस्थितियों को चार स्तरों में समझा जा सकता है—

(1) विभाजन (Partition), (2) प्रवास (Migration), (3) जबरन बेदखली (Forceful Eviction), (4) तबादला (Transfer)। इन सबने मिलकर एक ऐसा सामूहिक अनुभव रचा जिसने समाज को बार-बार विभाजित और पुनः परिभाषित किया।

इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो हिन्दू और मुस्लिम समुदायों के बीच साम्प्रदायिकता की खाई गहरी करने का कार्य मध्यकालीन आक्रमणों और धार्मिक असहिष्णुता ने भी किया। महमूद गजनवी से लेकर औरंगजेब तक, अनेक शासकों ने हिन्दू मंदिरों, शिक्षा केन्द्रों और सांस्कृतिक धरोहरों को नष्ट किया। नालन्दा विश्वविद्यालय का जलना, मथुरा के विद्या केन्द्रों का विध्वंस और सोमनाथ के मंदिर का अपमान—ये सब घटनाएँ हिन्दू मानस में स्थायी प्रतिक्रिया और असुरक्षा की भावना छोड़ गई। यही कारण है कि जब विभाजन हुआ तो सामुदायिक हिंसा में ये ऐतिहासिक स्मृतियाँ भी कहीं न कहीं सक्रिय थीं।

विभाजन-परक साहित्य की प्रवृत्तियाँ समय के साथ बदलीं— सबसे पहले लिखने वाले वे साहित्यकार थे जिन्होंने स्वयं 1947 की विभीषिका को भोगा। उनके लेखन में सीधा आक्रोश, दर्द और झकझोर देने वाला यथार्थ मिलता है। दूसरी पीढ़ी के लेखक वे थे जिन्होंने विभाजन को देखा तो था, परन्तु वे तब बालक या किशोर थे। 15-20 वर्ष बाद उन्होंने स्मृति और विस्मृति की कड़ी पकड़कर उस त्रासदी को साहित्य में व्यक्त किया। उनके लिए विभाजन एक स्मृति और अनुभव का सम्मिलन था, जिसमें व्यक्तिगत अनुभव कम, पर सामूहिक अवचेतन की गूँज अधिक थी।

भारत का विभाजन धर्म के आधार पर हुआ था। उस समय जो भी हिंसा, लूटपाट और हत्याएँ हुई, वे धार्मिक पहचान (हिन्दू-मुसलमान-सिख) के आधार पर हुई। लोग अपने-अपने धर्म के कारण विस्थापित हुए, घर छोड़े और नई जगहों पर बसे। फिर भी, विभाजन पर लिखने वाली पहली दो पीढ़ियों के लेखकों ने धर्म को सीधे-सीधे अपना साहित्यिक विषय नहीं बनाया। उनके लिए तत्कालीन सरोकार अलग थे—वे विभाजन के आघात, दर्द, विस्थापन, घर-बार के उजड़ने और मानवीय रिश्तों के टूटने से जूझ रहे थे। इसीलिए उनके लेखन में धार्मिक विमर्श गौण रहा, जबकि जीवन की पीड़ा और त्रासदी का यथार्थ अधिक प्रमुख था। परन्तु जैसे-जैसे समय बीता, राजनीतिक दलों ने साम्प्रदायिकता को वोट-बैंक की राजनीति से जोड़ दिया। उन्होंने अपने-अपने

ढंग से साम्प्रदायिकता की परिभाषाएँ गढ़ीं और उसे जनता तक पहुँचाया। इस प्रकार साम्प्रदायिकता केवल सामाजिक या धामिज़्क प्रवृत्ति नहीं रही, बल्कि राजनीतिक हथियार बन गई।

इस सन्दर्भ में मंजुला राणा का विचार महत्वपूर्ण है। वे मानती हैं कि साम्प्रदायिकता के भीतर भी भिन्न स्तर होते हैं। सभी साम्प्रदायिकता का समथज़्न करने वाले व्यक्ति कट्टर या पक्के साम्प्रदायिकतावादी नहीं होते। कई ऐसे लोग भी होते हैं जो न तो हिन्दू राष्ट्र के राजनीतिक लक्ष्य से सहमत होते हैं, और न ही हिन्दुत्व के अभियानों में प्रयोग किए जाने वाले जबरदस्ती के तौर–तरीकों से। लेकिन समाज में लगातार चल रहे साम्प्रदायिक लामबंदी के अभियान और संगठित चेतना–परिवर्तन के कारण वे लोग भी धीरे–धीरे साम्प्रदायिक आस्था से प्रभावित होते चले जाते हैं।

साम्प्रदायिक विचारधारा का अंतिम परिणाम हिंसा है। इसका कारण यह है कि साम्प्रदायिकता अक्सर काल्पनिक स्वर्ग की कामना और उससे जुड़ी धार्मिक उग्रता को जन्म देती है। जबकि धर्म का वास्तविक स्वरूप कभी भी उग्रता, कट्टरता या हिंसा को स्वीकार नहीं करता।

इस स्थिति से निपटने के लिए धर्मनिरपेक्ष संघर्ष आवश्यक है। यह संघर्ष दोतरफा होना चाहिए—

(1) प्रत्यक्ष रूप से साम्प्रदायिकता का मुकाबला करना, झूठ और प्रचार पर आधारित उसके तर्कों को नकारना।

(2) उन लोगों की चेतना को जगाना जो साम्प्रदायिक लामबंदी का हिस्सा बन रहे हैं, ताकि उन्हें धर्म और राजनीति के इस घालमेल से बाहर निकाला जा सके।

इस प्रकार साम्प्रदायिकता केवल धार्मिक असहमति नहीं, बल्कि राजनीतिक उद्देश्य से उपजी एक विचारधारा है, जो समाज को हिंसा की ओर धकेलती है। इसे रोकने के लिए सजगता, विवेक और सशक्त धर्मनिरपेक्ष राजनीति की आवश्यकता है।

भारत विभाजन का असर केवल समाज, राजनीति और संस्कृति पर ही नहीं पड़ा, बल्कि साहित्यकारों के जीवन और उनकी रचनात्मकता पर भी गहराई से पड़ा। विभाजन के समय अनेक लेखक और कवि पाकिस्तान चले गए थे। इनमें से कुछ समय के साथ भारत लौट आए। उदाहरणस्वरूप साहिर लुधियानवी, सज्जाद जहीर और कुर्रतुल ऐन हैदर पाकिस्तान गए और बाद में भारत लौट आए। लेकिन जोश मलीहाबादी और सआदत हसन मंटो वहीं रहे। मंटो ने पाकिस्तान में भी अपने लेखन को जारी रखा, परंतु वहां उन्हें भुखमरी, गरीबी और सामाजिक अवहेलना का सामना करना पड़ा, और अंततः उसी अभाव और पीड़ा में उनकी मृत्यु हो गई। इसके विपरीत, राही मासूम रजा जैसे साहित्यकार कभी पाकिस्तान नहीं गए। वे भारत में ही रहे और अपनी लेखनी के

माध्यम से भारतीय बहुलतावादी संस्कृति और साझा विरासत को स्वर देते रहे।

यह समझना आवश्यक है कि हिन्दू या मुसलमान होना साम्प्रदायिकता का लक्षण नहीं है। किसी मत या पंथ का अनुयायी होना अपने आप में सम्प्रदायवाद नहीं है। भारतीय संस्कृति की वास्तविकता और हिन्दू धर्म की परंपरा का मूल स्वर सहिष्णुता है। जब तक कोई व्यक्ति अपने धर्म या अस्मिता को बिना दूसरों पर थोपे मानता है, वह सम्प्रदायवादी नहीं है। सम्प्रदायवाद तब बनता है जब धर्म कट्टरता, उग्रता और असहिष्णुता का रूप ले लेता है। भारत की शक्ति उसकी इन्द्रधनुषी विविधता में निहित है। अनेक पंथ, भाषाएँ, संस्कृतियाँ और परंपराएँ मिलकर भारत को इन्द्रधनुष जैसा बनाती हैं। इस रंगीन विविधता की सम्भावना इसलिए साकार हुई क्योंकि भारत में सदियों से सहिष्णुता और परस्पर सम्मान का वातावरण रहा है।

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्वतंत्रता से पूर्व ही ब्रिटिश शासकों ने भारत में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने की राजनीति अपनाई थी। गोलमेज सम्मेलनों के दौरान उन्होंने साम्प्रदायिक नेताओं और प्रक्रियावादियों के साथ गठजोड़ कर भारत की एकता को कमजोर किया। उनका उद्देश्य यही था कि हिन्दू और मुसलमानों के राजनीतिक व सामाजिक हितों का विलय असंभव प्रतीत हो और ब्रिटिश शासन की उपयोगिता बनी रहे।

इसी प्रकार 1933 में हिन्दू महासभा के अधिवेशन में अध्यक्ष बने भाई परमानन्द ने हिन्दुओं और ब्रिटिश सरकार के बीच सहयोग का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि यदि हिन्दुओं को भारत के सबसे बड़े समुदाय के रूप में राजनीतिक संस्थाओं में मान्यता और प्रमुख स्थान मिले तो वे ब्रिटेन के साथ खुशी-खुशी सहयोग करेंगे। इस वक्तव्य में उस समय के साम्प्रदायिक झुकाव और ब्रिटिश सत्ता से समझौते की मानसिकता का संकेत मिलता है।

साहित्य के स्तर पर, आलोचकों ने विभाजन को भूचाल से तुलना करते हुए उपन्यासों और कहानियों का मूल्यांकन किया। डॉ. शशिभूषण सिंहल के अनुसार किसी भी विभाजन-आधारित उपन्यास का पहला भाग उस भीषण भूचाल का चित्रण करता है जिसने सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को हिला दिया। वहीं उसका दूसरा भाग उस भूचाल के परिणामों, टूटन के बाद की स्थितियों और राष्ट्रीय जीवन की संभावनाओं को सामने लाता है। डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि विभाजन पर आधारित उपन्यास केवल एक असाधारण घटना की कहानी नहीं है, बल्कि वह मानवता में छिपी पाशविक प्रवृत्तियों और उनके उभरने की गाथा है।

पंथनिरपेक्षता की स्थापना और उसका संरक्षण किसी भी लोकतांत्रिक और सभ्य समाज के लिए अनिवार्य है। इसके मार्ग में जातिवाद, सामाजिक संकीर्णता और

साम्प्रदायिकता सबसे बड़े बाधक हैं। ये सामाजिक और मानसिक बेड़ियाँ हैं जो न केवल समाज की उन्नति में रोड़ा डालती हैं, बल्कि संवैधानिकता और न्याय के मूल सिद्धांतों को भी प्रभावित करती हैं। इस विषय में विधिवेत्ता डॉ. लक्ष्मण सिंघवी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जब तक हमारे समाज में जातिवाद और वर्णभेद जैसी कुप्रथाएँ मौजूद रहेंगी, तब तक हमारे देश में सच्चा धर्मनिरपेक्ष और जनतांत्रिक स्वरूप नहीं बन सकता। यही नहीं, हमारे पड़ोसी राज्यों में जो धर्मान्धता और कट्टरता का दावानल सुलगता रहेगा, वह भी हमारे देश में पूर्ण रूप से धर्मनिरपेक्षता की स्थापना के लिए बाधक बनेगा।

सच्ची धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय जीवन में उसका प्रभाव तभी सुनिश्चित हो सकता है जब हम गरीबी और अज्ञान का परित्याग करें, घर-घर शिक्षा का प्रकाश फैलाएँ और राष्ट्रव्यापी एकता और भावनात्मक संलयन को साकार करें। यही अंतर्निहित एकता धर्मनिरपेक्षता की नींव और लोकतंत्र का समर्थक स्तंभ बन सकती है। भारतीय संस्कृति की यह परंपरा हमें यही संदेश देती है कि देश की विविधता और सहिष्णुता को बनाए रखना ही हमारे स्वर्णिम भविष्य की कुंजी है।

साम्प्रदायिकता के चुनौतीपूर्ण पहलुओं का सामना तभी संभव है जब इसके वैचारिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक आधारों का गहन अध्ययन किया जाए और इसका खुला, मुखर और वैज्ञानिक विरोध किया जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिक विचारधारा के चरित्र, उसकी वैचारिक जड़ें और सामाजिक आधार पर शोध हो और उसके विरुद्ध वैज्ञानिक तर्क और राजनीतिक संघर्ष चलाया जाए।

इतिहास में देखेंगे तो, दादाभाई नौरोजी, गांधी और नेहरू जैसे राष्ट्रवादी नेताओं का एक बड़ा हिस्सा धर्मनिरपेक्षता के प्रति प्रतिबद्ध था। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को राष्ट्रवादी राजनीति का महत्वपूर्ण मुद्दा बनाया, कई बार निर्णायक अवसरों पर हिन्दू संप्रदायवादियों के दबाव को ठुकराया और धर्मनिरपेक्षता की रक्षा के लिए अपनी जान तक को जोखिम में डाला। लेकिन दुर्भाग्यवश, उन्होंने साम्प्रदायिकता के वैचारिक और ऐतिहासिक विश्लेषण का पर्याप्त अध्ययन नहीं किया।

ब्रिटिश उपनिवेशियों की नीति भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण थी। उनके लिए यह आवश्यक था कि भारत में साम्प्रदायिकता की ज्वाला फैलती रहे, ताकि भारतीय जनता के बीच विभाजन बना रहे और उनका शासन आसान हो। इसके लिए उन्होंने इतिहासकारों, साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों का सहयोग लिया। कभी हिन्दुओं और कभी मुसलमानों का पक्ष लेकर उन्होंने साम्प्रदायिक आग को प्रज्वलित किया। उदाहरण के तौर पर, 1946 के साम्प्रदायिक दंगों में केवल पांच दिनों में लगभग पांच हजार लोगों की हत्या हुई। नवाखाली और बिहार के दंगों ने आम जनता की त्रासदी और नृशंस हत्याओं की

भयानक तस्वीर पेश की।

विभाजन के समय पाकिस्तान के संस्थापक मोहम्मद अली जिन्ना ने 11 अगस्त 1947 को संविधान सभा के अध्यक्ष के रूप में भाषण देते हुए कहा कि "आप किसी भी धमज़्, जाति या मत के हो सकते हैं, उसका राज्य से कोई संबंध नहीं है। हम इस बुनियादी सिद्धांत को मानकर चल रहे हैं कि सभी नागरिक समान हैं।" लेकिन यह बयान समय से पहले और सांप्रदायिक विभाजन के ज्वालामुखी के बीच दिया गया। जिन्ना ने ऐसे राजनीतिक और सामाजिक माहौल का निर्माण किया जिसने भारत को दो टुकड़ों में विभाजित किया और पाकिस्तान की अपनी कल्पना को भी विकृत कर दिया।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम वर्षों में साम्प्रदायिकता की राजनीति अपने चरम पर पहुँच चुकी थी। जब जिन्ना जैसे बड़े नेताओं ने राजनीतिक स्तर को इतना नीचे गिरा दिया, तब औसत साम्प्रदायिक प्रचार का स्तर भी और अधिक गिरना स्वाभाविक था। उनके अनुयायी और समथज़्क प्रचारक, जैसे जेड. ए. सुलेरी और एफ एम. दुर्रानी, जनता को भ्रमित करने में इतने आगे बढ़ गए कि उनकी शैली गोयबल्ज (नाजीवादी प्रचार मंत्री) जैसी प्रतीत होने लगी। तथ्य, तर्क और सच्चाई को दरकिनार कर, उन्होंने भय और घृणा का वातावरण तैयार किया।

यहाँ तक कि फजलुल हक, जो बंगाल जैसे प्रांत के प्रधानमंत्री जैसे जिम्मेदार पद पर आसीन थे, उन्होंने भी लीग के 1938 के अधिवेशन में भाषण देते हुए झूठे आरोप लगाए। उन्होंने कहा कि कांग्रेस-शासित प्रांतों में मुसलमानों का निर्मम संहार हुआ है, उनकी संपत्ति लूटी गई, मस्जिदें अपवित्र की गई और नमाजियों तक पर हमला हुआ। यह कथन वास्तविकता से परे था, परंतु ऐसी बातों ने जनता के मन में संदेह और वैमनस्यता को और गहरा कर दिया।

इस साम्प्रदायिक वातावरण के बीच भी, उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे साहित्यकारों ने अपनी कहानियों में सद्भाव और सहिष्णुता का संदेश दिया। उनकी प्रसिद्ध कहानी टेबल-लैण्ड इसका एक उदाहरण है। इसमें पात्र कासिम पंजाब से आए शरणार्थियों की सहायता के लिए चंदा देता है। जब दीनानाथ उसे संकोचपूर्वक याद दिलाते हैं कि यह चंदा हिन्दू-सिख शरणाथिज़्यों के लिए है, तो कासिम बड़ी सहजता से उत्तर देता है कि इसमें उसे कोई आपत्ति नहीं। उसका तर्क है कि जब तक शरणार्थियों का दु:ख दूर नहीं होगा, तब तक उनका साम्प्रदायिक आक्रोश निर्दोष मुसलमानों के प्रति हिंसा में प्रकट होता रहेगा। अत: उनकी सहायता करना मुसलमानों की रक्षा करने जैसा ही है।

कासिम आगे और स्पष्ट करता है कि हमारा वास्तविक कर्तव्य है अंग्रेज़ों द्वारा बोए गए साम्प्रदायिकता के विष-वृक्ष को उखाड़ फेंकना, ताकि स्वतंत्र राष्ट्र स्वस्थ वातावरण में पल्लवित हो सकें। इसलिए वह सुझाव देता है कि "एंटी-रायट-फंड" के

नाम से चंदा एकत्र किया जाए। उसकी दृष्टि में हिन्दू शरणार्थियों की सहायता करना भी दंगों को रोकने का साधन है। इस प्रकार कासिम का चरित्र साम्प्रदायिक सौहादज़् और राष्ट्रीय एकता का जीवंत उदाहरण बन जाता है।

स्वतंत्रता की बेला पर स्थिति अत्यधिक भयावह थी। उग्र राष्ट्रवाद और धार्मिक कट्टरता ने मिलकर जनता को भड़काने के नए-नए तरीके अपनाए। राजनीतिक स्वाथज़् में अंधे नेता भी इन सबको स्वीकार करते रहे। उस दौर की भयावहता को मंजुला राणा के संस्मरण जीवंत बना देते हैं।

वह लिखती हैं कि उनके अब्बा एक बार बजाज रोड पर एक पंसारी की दुकान से सामान खरीद रहे थे। अचानक लोगों में अफरा-तफरी मच गई, दुकानें बंद होने लगीं और भीड़ भागने लगी। उन्हें यह समझ तक नहीं आया कि शहर में दंगा भड़क चुका है। तभी छत्ते मस्जिद की दिशा से एक व्यक्ति खून में लथपथ दौड़ता हुआ आया। उसकी धोती और कमीज खून से पूरी तरह भीग चुकी थी। सड़क पर खून की धारियाँ बहने लगीं। कुछ ही क्षणों में उसकी टाँगों ने जवाब दे दिया और वह पंसारी की दुकान के सामने ही गिर पड़ा। यह दृश्य दंगों की नृशंसता और अमानवीयता का हृदयविदारक उदाहरण था।

पांडे बेचन शर्मा उग्र की कहानी खुदाराम हिन्दू-मुस्लिम धामिज़्क वैमनस्य के अत्यंत संवेदनशील पक्ष को उजागर करती है। कहानी के अनुसार, धार्मिक अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड के पाखण्डों के कारण एक कुलीन हिन्दू समाज द्वारा बहिष्कृत किया जाता है। वह केवल इसीलिए सामाजिक बहिष्कार का शिकार हुआ क्योंकि उसने धोखे से एक मुसलमान स्त्री के हाथ का जल ग्रहण कर लिया था। इस असहमति और सामाजिक दबाव के कारण वह आयज़्समाजी रीति से पुनः शुद्धि कराना चाहता है।

कहानी में एक दृश्य विशेष अत्यंत मार्मिक है। जब वेद भगवान की सवारी निकलती है, तो कुछ मुस्लिम लोग धार्मिक उद्देश्यों के नाम पर रक्तपात करने के लिए तैयार हैं। इस स्थिति में खुदाराम नामक साधु मुसलमान स्त्रियों से यह प्रार्थना करता है कि वे अपने पुरुषों को खून बहाने से रोकें। महिला इस प्रार्थना को स्वीकार कर लेती है और भीड़ के समक्ष स्पष्ट करती है कि धर्म के नाम पर रक्तपात की आवश्यकता नहीं है। उसका कथन है कि ''खुदा खून पसंद नहीं करता, यदि खून पसंद होता तो वजू के लिए पानी न बनाकर खून ही बनाता।'' इस कथन में धार्मिक सहिष्णुता और मानवीय मूल्यों की अनमोल प्रस्तुति है।

डॉ. रघुवर दयाल वार्ष्णेय इस कहानी की विवेचना करते हुए कहते हैं कि आधुनिक कहानीकार केवल अपने वतमान परिवेश के प्रति प्रतिबद्ध होता है। वह उसी परिवेश से प्रभावित होता है और उसी की परिस्थितियों में प्रामाणिकता पैदा करता है।

कहानीकार को न बाहर से उधार लिए हुए दर्द की जरूरत होती है, न अंदर से खींचे हुए सुख की। उसकी कथा का मूल और थीम स्वयं का, अपने समाज का और अपने परिवेश का परिणाम होता है।

डॉ. शैल बाला गांधीजी के दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि गांधीवाद जाति-पांति और छुआछूत के भेदभाव को व्यथज़ मानता है। उनके अनुसार, ''धर्मान्धिता ईश्वर को पसंद नहीं। न ही यह किसी धर्म का अंग है। सब धर्मों के प्रति समान भाव होने पर ही दिव्यदर्शन संभव है।''

समान रूप से, कमलेश्वर की कहानियों में स्वतंत्रता-संग्राम के समय की धार्मिक विद्वेष और विभीषिका स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। वह बताते हैं कि मुस्लिम महिलाएँ भी धार्मिक सहिष्णुता का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करती थीं। जब रामलीला का विमान निकलता था, तो मुस्लिम औरतें पर्दे हटाकर मूर्तियों की प्रशंसा करतीं, और उनके बच्चे दूर तक शोर मचाते हुए रामचन्द्र की जय-जयकार में शामिल होते थे। यह घटना साम्प्रदायिक सौहार्द और आपसी सहिष्णुता का जीवंत उदाहरण है।

डॉ. भैरूलाल गर्ग ने अपने ग्रन्थ स्वातंपयोत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन में भारत विभाजन के समय की त्रासदियों का गहन विश्लेषण किया है। उनका अध्ययन शरणार्थियों के आगमन, घर-बार छोड़ने, नए आश्रय की तलाश और जीवन के संघर्षों पर केंद्रित है। विभाजन के पश्चात् हर शहर में हत्या, लूटपाट, बलात्कार और अमानुषिक घटनाएँ घटित हुईं। शरणार्थी, जो अब अपने पुरुषार्थ और श्रम से जीवन जीना चाहते थे, स्थायी निवासी और शांतिप्रिय समाज के लिए अनचाहे और अस्वीकृत प्रतीत हुए। उनकी उपस्थिति ने दोनों पक्षों के विवेक-संतुलन को भंग किया और एक सामाजिक संघर्ष उत्पन्न किया।

इस समय का साहित्य इन घटनाओं की संवेदनाओं को अपने कथ्य में जीवंत रूप से प्रस्तुत करता है। लेखक ने मानव के भीतर छिपी पाशविक प्रवृत्तियों और हिंसक वृत्तियों को चित्रित किया है। मानव, भयावह सांप्रदायिक दंगों और बलात्कार जैसी घटनाओं के कारण, दुष्ट प्रवृत्तियों से ग्रसित हो गया था, और साहित्यकार ने इन्हें नग्न, सजीव और यथाथज़ रूप में प्रस्तुत किया।

इस परिप्रेक्ष्य में साहित्य केवल हिंसा का चित्रण नहीं करता, बल्कि यह सांप्रदायिक सहानुभूति, एकता और वैचारिक सुधार की दिशा में भी संदेश देता है। साहित्यकार ने अपनी पैनी दृष्टि और संवेदनशीलता से यह सुनिश्चित किया कि मानवता विरोधी घटनाओं का विश्लेषण समाज को चेतावनी और समाधान प्रदान करे। इसी दृष्टिकोण के आधार पर विभाजन पर अनेक उपन्यास और कहानियाँ रची गईं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का कथन इस संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है: ''विभाजन

पर वस्तुपरकता से लिखा गया साहित्य ही मानवता को प्रोत्साहित कर सकता है, और यदि लेखक का दृष्टिकोण उदात्त न होकर सांप्रदायिक हो, तो उसका साहित्य केवल द्वेष और सांप्रदायिक भावनाओं को बढ़ावा देगा।''

सांप्रदायिक दंगे केवल शिक्षा और सामाजिक समरसता को ही नहीं नष्ट कर रहे थे, बल्कि समाज में समानता और सहिष्णुता के तत्वों का भी उन्मूलन कर रहे थे। अज्ञेय की कहानी 'ये तेरे प्रतिरूप' में और सरदार बिशन सिंह की 'रमन्ते तत्र देवता:' में पात्र 'मैं' द्वारा यह संदेश दिया गया कि किसी के धर्म या पंथ की पहचान के आधार पर वैरभाव रखना अनुचित है। पात्र कहता है कि जो हमसे नफरत करता है, वह केवल न्याय की पूर्ति करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि समान दृष्टिकोण और मानवता की चेतना ही सांप्रदायिक हिंसा और द्वेष का विकल्प हो सकती है।

डॉ. राही मासूम रजा ने अपने साहित्य में तत्कालीन विभाजन की परिस्थितियों और सांप्रदायिक तनावों का जीवंत चित्रण प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा और संवाद सीधे तौर पर उस आतंक, भय और द्वेष को दर्शाते हैं जो विभाजन के समय समाज में व्याप्त था।

''अगर कुछ समझ में न आ रहा कि आखिर क्या किया जाए। पाकिस्तान न बने पर त ई हाल है, अउर जी ई बहन.... कहीं बन गया, त हम समझ रहे कि गंगौलियो में खून-खराबा हो जय है। हउ मादर....मातादिनवां अभंइयें से काना-फूसी कर रहा इधिर-उधिर। सुन रहें कि सलीमपुर बाग में एक ठो जलसहू भ्या रहा रात को। गंगौली, अलावलपुर, हुंडर ही अउर सलीमपुर यै एक्के साथ हमला करे की और मियां लोगन के काट के डाल देने की मिसकोट भई। अउर ईहौ तय भ्या है कि जेके-जेके घर में कभई कोई चमाइन, ललाइन या भरिन-ओरिन डाली गई होय, तेके-तेके घर की लड़किन को निकाल लिया जाए!''

''ई सब खबर कउन देता है आपको?

अशलफुल्ला खुदै बताइन हैं हम्मैं।

हिन्दुआ सब उनहूंको जलसवा में बुलाइन रहा का!

तूं त लगध्यो बाल की खल निकले! फुन्नन मियां चिढ़ गए।''

''न मनत्यो त सुनो। छिकुरिया गया रहा ऊ जलसे में। ई साला मातादिनवा जलसे में भासन दिहिस।

ओके भासन की माँ.....''

उनकी नजर दुल्लन पर पड़ गई जो भीतर से आकर उनके पास आकर खड़ा हो गया था।

''तै हिआँ का कर रहा, बे! जा इस्कूल।''

दुल्लन फटकार सुन कर सरक गया। कुन्नन मियाँ फिर तन्नू की तरफ मुड़े–

"त मातादीन पंडित तकरीर किहिन। कहिन कि मलिच्छ मुसलमानों को भारतवर्ष से निकाल देवे को चाहिए। अउर ई बहन.... को मंदिर बनाए के वास्ते जमीन हम दिया रहा। खाए-पीए को दस मंडा जमीन अलग से दिया। अउर ई साला तकरीर कर रहा, अउर ईहो न सोच रहा कि आखिर फुन्ननों मुसलमाने हैं। हमने जो ई कहीं मिल गए तो साले के टंगिये चीर देंगे।"

उपरोक्त अंश में स्पष्ट है कि किस प्रकार धर्म के नाम पर हिंसा और आपसी वैमनस्य को बढ़ावा देने वाले भाषण और तकरीरें समाज में घातक प्रभाव डालती थीं।

कहानी में देखा जा सकता है कि कैसे सरकारी और सामाजिक संरचनाओं के बीच आपसी अविश्वास और भय फैलता है। पात्रों के संवादों में यह स्पष्ट है कि लोग धार्मिक पहचान के आधार पर एक-दूसरे पर शक करते, हिंसक हो जाते और पूर्वाग्रहों में फंस जाते थे। उदाहरण के तौर पर, जलसों और सामुदायिक कार्यक्रमों के माध्यम से धार्मिक कट्टरपंथियों द्वारा फैलाए गए संदेश और भय लोगों को दंगाइयों में बदल देते थे।

डॉ. रजा ने इस प्रक्रिया को यह दिखाकर स्पष्ट किया है कि सांप्रदायिक द्वेष केवल हिंसा और आर्थिक नुकसान तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह मानसिक भय, सामाजिक अविश्वास, और सामूहिक पागलपन का रूप भी ले लेता है। दंगों की प्रेरणा केवल सड़क पर नहीं, बल्कि भाषणों और तकरीरों के माध्यम से दिमागों में पहले ही बैठा दी जाती थी।

साहित्यकार ने यह भी रेखांकित किया है कि लेखक अपने कथ्य में केवल बाहरी घटनाओं का चित्रण नहीं करता; वह समाज की मानसिक, सामाजिक और भावनात्मक संरचनाओं को भी दिखाता है। जैसे कि पात्रों की प्रतिक्रिया, भय और संवादों के माध्यम से वह यह प्रकट करता है कि धर्मांध और कट्टरपंथी लोगों का असर सीधे आम नागरिकों पर पड़ता है, और समाज का सौहार्द बिगड़ता है।

डॉ. राजा का यह दृष्टिकोण इस सत्य को भी उजागर करता है कि सांप्रदायिकता का दुष्परिणाम केवल तत्कालिक हिंसा या आपसी द्वेष में नहीं, बल्कि दीर्घकालिक सामाजिक क्षति और विश्वासघात में भी दिखाई देता है। समाज के लोग, जो कल तक एक-दूसरे के मित्र और पड़ोसी थे, सांप्रदायिक नफरत के प्रभाव में एक-दूसरे के जानी दुश्मन बन जाते हैं।

साम्प्रदायिकता का कोई भी रूप हो, उसकी जड़ में संकीर्ण मजहबी दृष्टिकोण और कट्टरता ही होती है। यह सामान्यतः बहुसंख्यक धर्म और राजनीति का मुखौटा पहनकर सामने आती है। धीरे-धीरे यह अपने व्यवहार में अल्पसंख्यक समुदाय के लिए हिंसक और घातक बन जाती है। बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता अनिवार्य रूप से फासीवाद

की ओर ले जाती है, जहाँ पूरे समाज पर एक ही रंग थोपने की कोशिश की जाती है। अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता अलगाववाद को जन्म देती है और अलगाववादी ताकतों को बढ़ावा देती है। अर्थात् साम्प्रदायिकता के दोनों रूपों में परिणाम अलग-अलग हैं, लेकिन दोनों ही समाज और राष्ट्र की शांति, सुरक्षा और संस्कृति के लिए खतरनाक हैं।

कट्टरता अपने धर्म और जाति के हितों की रक्षा की बात करते-करते अंततः हिंसा और आतंक का रूप धारण कर लेती है। फिर उसके लिए यह कोई मायने नहीं रखता कि एक ही भाषा, एक ही संस्कृति और एक ही सामाजिकता में पले-बढ़े लोग ही एक-दूसरे के विरुद्ध क्यों खड़े हो रहे हैं। जेहाद या अन्य किसी धार्मिक नारे के नाम पर पूरी की पूरी पीढ़ियाँ गुमराह कर दी जाती हैं। उन्हें अपने समाज की परम्पराओं, सांझी संस्कृति, कला और साहित्य की वास्तविक समझ से दूर रखकर केवल संकीर्ण मजहबी सोच दी जाती है। यही कारण है कि साम्प्रदायिकता मनुष्य को उसकी मानवीय संवेदनाओं से काट देती है।

हकीकत यह है कि भारत की संस्कृति हमेशा से ही बहुलतावादी और साझी रही है। संतों, पीरों, दरगाहों और तीर्थस्थलों पर हिन्दू और मुसलमान समान भाव से जाते रहे हैं। इसी साझा परंपरा से सहज-सामान्य जीवन का विकास हुआ। मौखिक और साहित्यिक परंपराएँ हमेशा आपसी सद्भाव और भाईचारे को बढ़ाने की दिशा में रहीं। इस साझा संस्कृति पर गर्व करना ही भारतीयता की असली पहचान है।

डॉ. अदीब ने अपनी रचना हमारा क्षितिज में यह स्पष्ट किया है कि इतिहास के आधार पर आज के मुसलमानों को दोषी ठहराना अनुचित और अन्यायपूर्ण है। यदि कोई मुसलमान शासक धार्मिक स्थलों को नष्ट करता है, तो सत्ता में आने वाला कोई भी निरंकुश शासक वैसा कर सकता है। उदाहरण के लिए पुष्यमित्र शुंग (एक सनातनधर्मी राजा) ने बौद्ध विहारों का विध्वंस किया था। इसका मतलब यह नहीं कि आज के हिन्दुओं को उस ऐतिहासिक अन्याय के लिए जिम्मेदार ठहराया जाए। अतः 'लम्हों ने खता की थी, सदियों ने सजा पाई' कहना बिल्कुल सही है।

नवभारत टाइम्स के 2003 के अंक में जिस प्रकार धर्म और समाज को आक्रामक तरीके से विवेचित किया गया है, उसका वर्णन मिलता है-

"लेकिन इसे क्या कहें कि धर्म को कुछ लोगों ने अपने नाटकीय जीवन का मंच बना लिया है। वे बाहर से शुद्ध दिखेंगे, कर्मकांड में उलझे रहेंगे, लेकिन जिंदगी की तमाम बुराइयाँ इनके भीतर मचलती रहेंगी। अलबत्ता यह बात समझ में आती है कि आज जिंदगी के सारे मानदंड टूट रहे हैं। ट्रेडिशन, लोक संस्कार, सभ्यता - सारी चीजें बड़ी तेजी से बदल रही हैं। इंसान एक दूसरे से दूर होते जा रहे हैं। ऐसे में रमजान का सबसे बड़ा सामाजिक पक्ष इफ्तार है, जिसमें एक साथ बैठकर सैकड़ों लोग खाते-पीते

हैं। रमजान का एक सामाजिक पक्ष यह भी है कि पूरे महीने भर लोग अपनी हैसियत से दान देते हैं। यदि शुद्ध इस्लामी तरीके से इस दान का वितरण किया जाए, तो समाज की बहुत सारी समस्याएं हल हो सकती है। कुछ अच्छाइयाँ आज भी बची हुई हैं। इसलिए धर्म को वर्तमान स्थितियों में पिरोकर जमीन से जोड़ना होगा। तभी धर्म की प्रासंगिकता रहेगी। कुरान में भी कहा गया है, ''ऐ लोगों, रोजे के दिनों में भी अपने कर्म से गाफिल नहीं होना।''

धर्म को कुछ लोगों ने केवल नाटक और कर्मकाण्ड का मंच बना लिया है, जहाँ बाहरी दिखावा तो है, लेकिन भीतर बुराइयाँ बनी रहती हैं। फिर भी धर्म का एक सकारात्मक पहलू है–

रमजान का इफ्तार एक सामाजिक आयोजन है जिसमें लोग साथ बैठकर खाते–पीते हैं। रमजान का दान (जकात) यदि शुद्ध रूप से वितरित किया जाए तो समाज की कई समस्याएँ हल हो सकती हैं।

जिन संदर्भों मे भारत का विभाजन हुआ अर्थात् जिन्ना की मुस्लिम लीग का धर्म के आधार पर दो राष्ट्र के सिद्धान्त ने भारत की सामाजिक एकता की भूमि का खण्डित कर दिया। कुछ लोगों ने भले ही अपने राजनीतिक और आर्थिक हित साधे हों लेकिन गंगा–जमुनी तहजीब इस स्थिति में तार–तार हो गई। रघुंवश मणि ने कुछ इसी प्रकार अपने लेख में विवेचित किया है–

''नुक्कड़ पर मुख्य सड़क के बराबर कोठों पर मोहल्ले के कुछ लोग जमा थे। सामने सैफूपी.ए.सी वालों के सामने खड़ा था। उसके सामने पीएसी के जवान थे। सैफू जोर–जोर से चीख रहा था – ''मुझे तुम लोगों ने क्यों मारा.... मैं हिन्दू हूँ.... हिन्दू हूँ....''

''मैं आगे बढ़ा। मुझे देखने के बाद भी सैफू रुका नहीं। वह कहता रहा – ''हां...हां, मैं हिन्दू हूँ....'' वह डगमगा रहा था। उसके होंठों के कोने से खून की एक बूंद निकलकर ठोढ़ी पर ठहर गई थी।

''तुमने मुझे मारा कैसे... मैं हिन्दू....''

सैफू.... ये क्या हो रहा है.... घर चलो।

मं.... मैं हिन्दू हूँ।

मुझे बड़ी हैरत हुई.... अरे क्या ये वही सैफू है जो था.... इसकी तो काया पलट गई है। ये इसे हो क्या गया।

''सैफू, होश में आओ।'' मैंने उसे जोर से डांटा।

मौहल्ले के दूसरे लोग पता नहीं किस पर अन्दर ही अन्दर दूर से हंस रहे थे। मुझे गुस्सा आया। साले ये नहीं समझते कि वह पागल है।

ये आपका कौन है ?'' एक पी.ए.सी वाले ने मुझसे पूछा।

मेरा भाई है... थोड़ी मेंटल प्राब्लम है इसे।

तो इसे घर ले जाओ।'' एक सिपाही बोला।

हमें पागल बना दिया।'' दूसरे ने कहा।

चलो... सैफू घर चलो। कर्फ्यू लग गया है... कर्फ्यू

नहीं जागा..... मैं हिन्दू हूँ.... हिन्दू...... मुझे.....मुझे......''

वह फूट-फूटकर रोने लगा.... ''मारा-मुझे मारा.... मुझे मारा.... मैं हिन्दू हूँ..... मैं.....''

सैफू धड़ाम से जमीन पर गिरा.... शायद बेहोश हो गया था.......

अब उसे उठाकर ले जाना आसान था।

यह कहा जा सकता है कि भीष्म साहनी ने देवदत्त जैसे पात्र इसीलिए रचे, क्योंकि वे स्वयं वामपंथ से गहरे जुड़े थे। मगर यह सच है कि साम्यवादियों के प्रति लोगों के पूर्वाग्रह बहुत गहरे हैं। इसका एक कारण वह अध्यात्म है जिसने अभी तक भारतीय समाज को तार्किकता और वैज्ञानिक चिन्तन से थोड़ा दूर रखा है। साम्यवादियों को भौतिकवादी (गाली के अर्थ में) और धर्मविरोधी कहकर लांछित किया जाता रहा है।

भारत-विभाजन का समय भारतीय इतिहास का सबसे भीषण और हृदयविदारक अध्याय रहा है। लाखों लोग इस विभाजन की आँच में जलकर भस्म हो गए। घर-परिवार उजड़ गए, रिश्ते-नाते बिखर गए और मानवता कराह उठी। इस करुण और त्रासद परिस्थिति का सजीव अंकन हिन्दी साहित्यकारों ने अपने-अपने ढंग से किया है।

डॉ. त्रिभुवन सिंह ने इस त्रासदी का मार्मिक चित्रण किया है। उन्होंने दिखाया कि विभाजन केवल राजनीतिक घटना नहीं थी, बल्कि वह एक ऐसी विभीषिका थी जिसमें इंसान की इंसानियत खत्म हो गई थी। विभाजन के समय का सांप्रदायिक तांडव, हिन्दू-मुस्लिम दंगे, रक्तपात, लूटमार और स्त्रियों के साथ हुए जघन्य अत्याचार उनके लेखन में प्रखर रूप से दिखाई देते हैं। स्त्रियों का सतीत्वहरण, उनका अपहरण और उनकी नीलामी जैसे दृश्य पूरे समाज के माथे पर कलंक के रूप में अंकित हुए। लेखक ने इसे उपन्यास न कहकर एलबम कहा है, क्योंकि इसमें हर दृश्य बोलता है और यह दशातज़ है कि जब राजनीति में साम्प्रदायिकता घुल जाती है तो इंसान पशु बन जाता है और समाज के समक्ष नंगा नाच प्रस्तुत करता है।

कमलेश्वर ने अपने उपन्यास **कितने पाकिस्तान** में इस विभाजन को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उकेरा। उन्होंने इसे केवल एक घटना नहीं माना, बल्कि पूरी मानव सभ्यता के लिए चेतावनी समझा। वे अपने समकालीन साहित्यकारों को आवाज

देकर कहते हैं कि साहित्यकार की जिम्मेदारी केवल अपनी व्यक्तिगत रचनाशक्ति का प्रदर्शन करना नहीं है, बल्कि उसे समाज और दुनिया को बेहतर बनाने के लिए काम करना चाहिए। उनकी यह पुकार इस बात की ओर संकेत करती है कि साहित्यकार समाज का सजग प्रहरी है, जो अन्याय और अमानवीयता के विरुद्ध अपनी लेखनी से संघषज़ करता है।

सांप्रदायिकता को साहित्य में एक भयंकर बीमारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसकी तुलना एड्स से भी अधिक खतरनाक रोग से की गई है। एड्स से पीड़ित व्यक्ति किसी प्रकार जीवित रह सकता है, किन्तु साम्प्रदायिकता का शिकार होने पर व्यक्ति की सोच, संवेदना और करुणा ही विकलांग हो जाती है। यह बीमारी व्यक्ति तक सीमित नहीं रहती, बल्कि पूरे समाज और राष्ट्र को अपनी गिरफ्त में ले लेती है।

इसके दुष्परिणाम स्पष्ट हैं— आपसी भाईचारा और सौहार्द टूट जाता है, आर्थिक क्षति होती है, हजारों लोग प्राणों से हाथ धो बैठते हैं, राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न होती है, राष्ट्रीय एकता खंडित होती है और राष्ट्रीय सुरक्षा पर संकट आ जाता है। यही कारण है कि साहित्यकारों ने साम्प्रदायिकता के इस विष के विरुद्ध अपनी लेखनी को तलवार बनाकर इस्तेमाल किया और समाज को चेताया।

इस प्रकार डॉ. त्रिभुवन सिंह और कमलेश्वर जैसे रचनाकारों ने अपने लेखन के माध्यम से भारत-विभाजन की पीड़ा को केवल इतिहास के पन्नों तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे एक जीवंत और मामिज़्क अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने यह संदेश दिया कि साम्प्रदायिकता मानव सभ्यता के लिए कैंसर है और यदि इससे बचाव नहीं किया गया तो यह पूरी मानवता को विनाश की ओर ले जाएगी।

राजीव कुमार की रचना *टुकड़े* में प्रस्तुत वह दृश्य विभाजन और उसके बाद के समय के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक उलझनों का अत्यन्त मामिज़्क चित्रण है। मौलवी और पंडित के बीच का वह संवाद, जो सरल भाषा में लिखा गया है, एक गहन भावनात्मक सत्य को उजागर करता है: साझा जीवन की इतनी घनिष्टता और आपसी निभज़्रताएँ कि विध्वंश के बाद भी एक-दूसरे को हाथ से जाने देना मुमकिन नहीं। मौलवी का पाकिस्तान जाना तय होने के बीच पंडित का आग्रह — 'तूं नाही जइबा' सिर्फ धन्यवाद या अनुरोध नहीं है; यह उस सह-अस्तित्व की प्रतिज्ञा है जिसने दशकों तक इस भूमि पर बसी पीढ़ियों को एकजुट रखा। पंडित का कथन — "चाहे हमार धमज़ भ्रष्ट हो जाए हम तोहे कहीं नहीं जाने देइब" — विभाजन के राजनीतिक विभाजन से ऊपर उठकर मानवीय बंधन की गवाही देता है। मौलवी के आँसू, पंडित का गले लगाना और भीड़ की स्तब्धता — ये सब मिलकर दृश्य को क्लाइमेक्स बनाते हैं; यह क्लेमैक्स उस समय के छोटे-छोटे निजी क्षणों का प्रतिनिधित्व है जिनमें राजनीति के

बड़े फैसलों का मानवीय जीवन पर सीधा प्रभाव पड़ा।

इस अंश के साथ जुड़ी टिप्पणी यह बताती है कि स्वतंत्रता के तुरंत बाद ही एक नये प्रकार का साम्प्रदायिक विष आतंकवाद और कट्टरता जन्म लेने लगा। यह नया विष केवल सीमाओं के साथ ही सीमित नहीं रहा, बल्कि समाज के भीतर नए प्रतिमानों और भय की संस्कृति को जन्म देने लगा। हिन्दी कथा में यह परिवतज़्न सहज ही परिलक्षित हुआ; कहानियाँ अब केवल विभाजन की तत्काल पीड़ा नहीं रेखांकित कर रहीं थीं, बल्कि स्वतंत्रता के बाद उठती नई चुनौतियों, अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक तनाव और समाज में बढ़ते कटु-राजनीतिक स्वरूपों को भी चित्रित कर रहीं थीं।

विभाजन की पीड़ा संगीत और कविता में भी गूंजती है। मेहंदी हसन की पंक्तियाँ — "अबके हम बिछड़े तो शायद कभी ख़्वाबों में मिलें" उस अनिश्चित विरह की आत्मीयता को व्यक्त करती हैं जो विभाजन ने अनेक जोड़ों, परिवारों और समुदायों के बीच छोड़ी। यह विरह आने वाली पीढ़ियों तक की स्मृति भी बन गया—एक स्थायी दुख जो समय के साथ भी पूरी तरह धँसकर नहीं गया।

साहिर लुधियानवी के दो प्रतिपद-गायन — **तराना-ए-हिन्द** और **तराना-ए-मिल्ली** में भी इस द्विविध अनुभूति का परावतज़्न मिलता है। उनके शब्दों में एक ओर विशाल, समतुल्य, विश्वगृह-सी अभिव्यक्ति है —

चीन-ओ-अरब हमारा, हिन्दोस्ताँ हमारा
रहने को घर नहीं है, सारा जहाँ हमारा
चीन-ओ-अरब हमारा....
खोली भी छिन गई है, बेंचें भी छिन गई हैं
सड़कों पे घूमता है, अब कारवाँ हमारा
जेबें हैं अपनी ख़ाली, क्यों देता वरना गाली
वो संतरी हमारा, वो पासवां हमारा
चीन-ओ-अरब हमारा....।

जो एक समावेशी, सार्वभौमिक भाइचारे का उद्घोष है; वहीँ दूसरी ओर 'खोली भी छिन गई है, बेंचें भी छिन गई हैं' जैसी पंक्तियाँ दासता, बेघरता और तिल्ली-तिल्ली कर छिनती जिंदगियों का बयान हैं। साहिर का तराना उसी समय की परतों पर काम करता है: वह एक ओर अहंकारी या संकुचित पहचान की निंदा करता है और दूसरी ओर उस धरती पर बने रहने, उसका हिस्सा होने की जोरदार अनुभूति को व्यक्त करता है। इन पंक्तियों में घर-बार की खोई हुई सुरक्षा और साथ ही विश्वव्यापी अपनत्व—दोनों भाव समाहित हैं।

इन सारे तत्वों — राजीव कुमार की छोटे-घर के मानवीय दृश्यावलियों,

स्वतंत्रता–उत्तर में उभरते कट्टरवाद की चेतावनी, मोहब्बत और विरह की गीतात्मक अभिव्यक्ति, तथा साहिर के समावेशी–पर संवेदनशील तरानों — का एक साझा धागा यह है कि विभाजन ने केवल भौगोलिक सीमाएँ नहीं बनाईं; उसने लोगों के हृदयों में दरारें डाल दीं, पर उसी धरती पर रची–बसी समानुभूति, साझा संस्कृति और कला ने बार–बार कहा कि असल जीवन का आधार सहअस्तित्व और मानवीय नजदीकी है। साहित्य, संगीत और व्यक्तिगत क्षण इन विस्मृतियों को स्मरण में रखते हैं, और यही कारण है कि ये रचनाएँ आज भी समयानुकूल और मार्मिक बनी रहती हैं।

29 दिसम्बर 1930 को इलाहाबाद में आयोजित *ऑल इंडिया मुस्लिम लीग* के 25वें अधिवेशन में डॉ. मुहम्मद इकबाल ने जो अध्यक्षीय भाषण दिया, वह भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास की दिशा बदलने वाला क्षण माना जाता है। इसी भाषण में पहली बार यह धारणा रखी गई कि पश्चिमोत्तर भारत के मुस्लिम बहुल प्रान्तों को मिलाकर एक स्वशासित राज्य की स्थापना मुसलमानों की नियति है। यही विचार आगे चलकर पाकिस्तान की परिकल्पना का बीज सिद्ध हुआ।

इकबाल का यह विचार मात्र एक राजनीतिक घोषणा नहीं था, बल्कि उस मानसिकता का प्रतीक था जिसमें साम्प्रदायिक विभाजन की जड़ें गहरी हो चुकी थीं। यही कारण था कि साहित्यकारों की संवेदनशील दृष्टि इस बँटवारे की मानसिकता से अत्यधिक प्रभावित हुई। साहित्य में जहाँ विभाजन की व्यथा और रक्तरंजित दृश्यों का अंकन हुआ, वहीं इसके समाधान और भविष्य की संभावनाओं पर भी विचार किया गया।

कमलेश्वर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास **कितने पाकिस्तान** में लिखा— ''जितना जो कुछ टूट गया, उसे भूल जाओ। जो कुछ टूटने के बाद बचा है, उसे टूटने से बचाओ। जितने मुल्क बनेंगे, वे सिर्फ इंसान को तकसीम करेंगे। जरूरत से ज्यादा इस दुनिया का बँटवारा हो चुका है। खुदा के लिए बँटवारे की जहनियत को खत्म करो।''

यह कथन एक साहित्यकार की गहरी पुकार है, जो अतीत की त्रासदी से सीख लेकर भविष्य को बचाने का संकल्प प्रस्तुत करता है।

स्वतंत्रता से पहले जिन कवियों ने 'सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा' जैसा गीत लिखा था, वही धीरे–धीरे धार्मिक कट्टरता की ओर उन्मुख होने लगे। 1940 में मुस्लिम लीग द्वारा प्रस्तुत **पाकिस्तान प्रस्ताव** को इस्लामी महत्वाकांक्षा का चरमोत्कषज़ माना गया। विभाजन के दौरान पंजाब सबसे अधिक हिंसा से प्रभावित हुआ। इस स्थिति को समझने के लिए ई.एन. टेलबॉट और डेविड गिलमार्टिन के अध्ययन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

साहित्य में इस त्रासदी की गूँज भीषण रूप से सुनाई देती है। भीष्म साहनी का

तमस, खुशवंत सिंह का **ए ट्रेन टू पाकिस्तान**, इंतज़ार हुसैन का **बस्ती**, अमिताव घोष का **द शैडो लाइन्स** और बाप्सी सिधवा का **आइस-कैंडी मैन** जैसी कृतियाँ विभाजन की विभीषिका और उसके मानवीय परिणामों को गहराई से उजागर करती हैं। इन उपन्यासों में न केवल हिंसा और विस्थापन का अंकन है, बल्कि यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार राजनीति ने सामान्य जन-जीवन की शांति और साझा संस्कृति को छिन्न-भिन्न कर दिया।

विभाजन के बाद बुद्धिजीवी और सामाजिक चिन्तक भी एक अजीब संत्रास में फँस गए। औपनिवेशिक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य ने जो साम्प्रदायिकता के बीज बोए थे, वे 1947 में एक भयावह फसल के रूप में सामने आए। उसका फल बीभत्स साम्प्रदायिक हिंसा और जनसंहार के रूप में देश ने भुगता।

कृष्णा सोबती ने एक साक्षात्कार में विभाजन की त्रासदी को स्मरण करते हुए कहा— ''विभाजन भयावह था। उस त्रासदी को, और उस नफरत को जो इसके साथ आई, सहना और जीना बहुत मुश्किल था। लेकिन हम जीए। इससे इस राष्ट्र की जिजीविषा की परीक्षा हुई, इसकी ताकत का पता चला, भरोसा हुआ कि जल्द ही यह मुल्क इस विभीषिका से निकल आएगा।'' उनके अनुसार विभाजन ने पंजाब के लोगों को बाँट दिया और वहाँ का सामाजिक ताना-बाना नष्ट कर दिया। बँटवारे के बाद की घटनाओं ने दोनों ओर की जनता के बीच और अधिक तल्खी पैदा कर दी।

फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ पॉल सार्त्र का कथन भी यहाँ प्रासंगिक प्रतीत होता है— ''बंदी शिविरों में तुम्हें या तो संघषज़ करना होगा या सड़ जाना होगा।'' यह कथन विभाजन के समय उत्पन्न उस परिस्थिति को इंगित करता है जिसमें लोग हिंसा और विस्थापन के बीच संघषज़ करने को विवश थे।

उर्दू साहित्य में भी इस त्रासदी का स्वर व्यापक रूप से सुनाई देता है। हमीद अख़्तर की **लॉ-मकान**, कुर्रतुलऐन हैदर की **हाउसिंग सोसाइटी**, इब्राहीम जलीस की सामाजिक रिपोर्टिंग **चोर बाजार**, और शौकत सिद्दीकी की **खुदा की बस्ती** जैसी रचनाएँ इस पीड़ा की जीवित दास्तानें हैं। इन्हें सामूहिक रूप से 'फसादात के अफसाने' 'The Tales of Riot' कहा गया है। इन कहानियों ने बँटवारे की हिंसा, विस्थापन, भूख, बेघरपन और टूटते सामाजिक रिश्तों को साहित्य में स्थायी रूप से दर्ज कर दिया।

कुर्रतुलऐन हैदर का **आग का दरिया** भारतीय उपन्यास साहित्य का एक मील का पत्थर माना जाता है। इसमें विभाजन के पहले और बाद के भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक छवियों को बहुत ही सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है। प्रस्तुत उद्धरण में उन्होंने अपने पात्र **कमाल** के माध्यम से **हिन्दुस्तान** की एक सांस्कृतिक और भावनात्मक परिभाषा दी है।

"यह हिन्दुस्तान क्या था, इसकी सचेतन रूप में उसने (कमाल ने) व्याख्या नहीं की। बचपन से वह इस हिन्दुस्तान का आदी था, जहाँ वह पैदा हुआ था, जहाँ उसके पुरखे पिछले सात-आठ सौ साल से पैदा होते आए थे। इस हिन्दुस्तान में सरसों के खेत थे और रहट, और सीतलादेवी के मंदिर। हिन्दुस्तान बस्ती जिले का वह मठ था, जहाँ बरामदे में तख्त पर एक मोटा बी.ए. पास महन्त बैठा था और जिसको मम्मी ने दस का नोट चढ़ाया था, और जिसने आशीर्वाद दिया था। हिन्दुस्तान इटावे की वह काई चढ़ी दरगाह थी, जिसकी मुँडेरों पर बहुत-से कलंदर उकडूँ बैठे रहते थे, जिनमें से एक ने कमाल को बटवल के सन्तरे खिलाए थे। हिन्दुस्तान कदीर ड्रायवर की बूढ़ी माँ थी, जो पीले रंग की धोती पहने मिर्जापुर के स्टेशन पर कमाल के लिए मिट्टी के खिलौने लेकर आई थी। हिन्दुस्तान सिविल लाइंस की वे सड़कें थी जिन पर साहब के 'डॉग ब्यॉयज' शाम कुत्तों को हवा खिलाने केलिए निकलते थे। हिन्दुस्तान बूढ़ा हाजी बशारत हुसैन खानसामा था, जो जब कमाल को सीतला निकली थी, तो अपनी दुपल्ली टोपी उतार कर, एक टाँग पर हाथ जोड़कर उसके सामने खड़ा हो गया था और गिड़गिड़ाकर बोला था, "माता, अब माफ करो, भैया को छोड़कर चली जाओ-माता, तुम्हारे आगे हाथ जोड़ता हूँ।"

कमाल के लिए हिन्दुस्तान किसी भौगोलिक इकाई या राजनीतिक सत्ता का नाम नहीं था, बल्कि उसकी स्मृतियों, अनुभवों और जीवन-स्थितियों का साझा संसार था। उसमें खेत-खलिहान थे, रहट की आवाज थी, मंदिरों के आशीर्वाद थे, दरगाहों की गहमागहमी थी, मेलों और बाजारों की चहल-पहल थी, माँ के स्नेह से जुड़ी मिट्टी की खुशबू थी, और धार्मिक आस्था से परे इंसान की पीड़ा में साझेदारी करने वाला खानसामा था। यह हिन्दुस्तान वह जमीन थी जिसमें विभिन्न धर्म, जाति और वर्ग के लोग एक साथ सांस लेते थे, एक-दूसरे के दुख-दर्द में भागीदार होते थे और साझा संस्कृति का एक विराट कैनवास रचते थे।

भारत विभाजन और सांप्रदायिकता पर हिन्दी कथा-साहित्यकारों ने अपने निजी अनुभव और स्वानुभूति को आधार बनाकर उस त्रासदी का अंकन किया। हिंसा, लूट, बलात्कार, विस्थापन और घर-बार छोड़ने का असहनीय दर्द लेखकों की संवेदना को गहरे तक झकझोर गया। साहित्य इस त्रासदी का साक्षी बना, क्योंकि राजनीतिक नेतृत्व ने इस पीड़ा को कभी सही मायनों में महसूस नहीं किया।

विभाजन की त्रासदी केवल राजनीतिक घटना नहीं थी, बल्कि यह मानवता की सबसे बड़ी विफलताओं में से एक थी। जो लोग अपने पड़ोसियों के साथ पीढ़ियों से रहते आए थे, अचानक दुश्मन बन गए। धार्मिक उन्माद ने इंसानियत को पीछे धकेल दिया।

कुर्रतुलऐन हैदर जैसे लेखकों की दृष्टि में यह विभाजन केवल भूभाग का बँटवारा नहीं था, बल्कि यह आत्मा और संस्कृति का विखंडन था। यही कारण है कि उन्होंने अपने पात्र *कमाल* की स्मृतियों के माध्यम से यह दिखाया कि असली हिन्दुस्तान इंसानों की साझी जिंदगी, संस्कारों और भावनाओं में बसा था—न कि राजनीति की उन सीमाओं में जो अंग्रेजों और तत्कालीन नेताओं की साजिश से खिंची गईं।

इसलिए आज भी यह प्रश्न प्रासंगिक है कि अगर उस समय नेताओं ने विभाजन की मानवीय पीड़ा और संभावित परिणामों को सही ढंग से समझा होता, तो शायद यह विभाजन कम से कम हिंसा और क्रूरता के साथ सम्पन्न हो सकता था।

❑❑❑